जीव, चेतना और ईश्वर

ऐसा क्या है जिसको जानना शेष है? क्या कुछ विशेष है, विशिष्ट है, अद्भुत है, जो नज़रो से ओझल और हमारी दृष्टि की सीमा में नहीं है ? दिख नहीं रहा है इसलिए अंदर में जिज्ञासा बनी हुई है? दिखना तो दूर ये समझ नहीं आ रहा कि जो दिख रहा है उसके परे भी कुछ है? यदि ऐसा है तो चिंता बनी रहेगी। जो दिख रहा है उसकी चिंता तो सदैव से है। जीवन की निरंतरता, साँसों की अटूट लड़ी के साथ अपने चारो ओर की चिंता भी निरंतर है। पर क्या कार्य - कारण भी उतना ही है जो दिख रहा है ? हमारे सामने जो विश्व पसरा हुआ है क्या उसमे सम्पूर्णता है? हमारे सभी प्रश्नो, जिज्ञासाओं और प्रत्येक क्षण घटित होने वाले, हर क्षण बदलने वाली स्थिति और परिवर्तनशील जगत के बारे में स्पष्टता दे सके? उसको समझने के साथ ही एक और सत्ता का भान होने लगता है।

चारो ओर व्याप्त दृश्य जगत के स्वरुप के बदलने की चंचल प्रवृत्ति और कर्म जगत की सीमित क्षमता; यह सीधी बात प्रत्येक क्षण इंगित करती है कि कुछ तो है जो प्रत्यक्ष नहीं है पर उसकी व्याप्ति है। सत्ता है, शक्ति है जो निर्णयकर्त्ता है। विधाता है और इतने बड़े ब्रह्माण्ड का संचालक है। परिवर्तन, परिवर्धन और परिष्कार उसका मूल है। दिख नहीं रहा ऐसा भी है पर स्पष्टता का अभाव देखने वालो की दृष्टि में है। ऐसा कौन सा आभूषण है जो दिखता नहीं मानव को अपनी दृष्टि से। दस आभूषणों को, दस प्रकार के एक ही धातु सोने से बने आभूषणों को एक स्थान पर एकत्र करके यदि देखा जाये तो प्रथम दृष्ट्या वे पायल, बाजूबंद, कुण्डल, हार, अथवा जो उनका स्वरुप है उसमें दिखते है। हार पैर में नहीं पहना जा सकता और पायल को गले में धारण नहीं कर सकते। पर क्या ये परम सत्य है, बिलकुल नहीं। अब सारे आभूषणों को यदि उनके बाह्य स्वरुप से विमुक्त कर दिया जाए, उन्हें उनके स्वरुप परिवर्तन हेतु ज्ञान दृष्टि की अग्नि में डाल दिया जाए तो बाहरी स्वरुप क्षण भर में नष्ट हो जाएगा और बचेगा बस शुद्ध सोना। स्वर्ण ही शेष बचेगा तो आभूषण का स्वरुप क्या था? सच क्या था? स्वर्ण आभूषण, स्वर्ण या दोनों ? आभूषण के स्वरुप तो दिखाई दे रहे थे। स्पष्टतः सबने देखा उसके अस्तित्व को कैसे नकारा जा सकता है। बाह्य जगत में जो दिखता है उसे स्वीकार करना और सत्य मानना गलत तो नहीं है। जैसा दिखा, वैसा स्वीकारा। सत्य, असत्य के जाल में क्या पड़ना, क्यों उलझना किसी नयी बात में कि आभूषण को उसके स्वरुप से नहीं उसके तत्व से जानो ? अच्छी - भली चिंतामुक्त जानकारी थी, स्पष्टता भी और था मन निश्चिन्त। फिर भला किसी नयी बात को जानने और समझने की क्या आवश्यकता है ? बस एक ही उत्तर आता है सामने की इस चराचर जगत और संपूर्ण प्रकृति की संरचना में परिवर्तन की निरंतरता को आधार बनाया गया है। इसलिए सारे आभूषण के वर्तमान दिखने वाले स्वरुप अभी इसी क्षण या किसी अगले पल बदलने वाले है, नष्ट होने वाले है। इसलिए मूल को जानना जरुरी है जो ना तो बदलने वाला है और ना ही विलुप्त होने वाला है। आभूषण टूट जाए तो उसके स्वरुप परिवर्तन समय यह कहना महत्वपूर्ण नहीं है कि आभूषण सोने के कुण्डल थे पर यह बताना जरुरी है की यह आभूषण २ ग्राम सोने का था। क्या सामने आया, २ ग्राम सोना मात्र ? टूटे आभूषण ने विवश कर दिया सोने का मूलतत्व जानने को। आभूषण अटूट होता, परिवर्तन उसकी प्रकृति का अभिन्न अंग नहीं होता तो बात अलग थी। फिर जिस किसी धातु का होता तो उसकी चर्चा जरुरी नहीं थी ना जानना आवश्यक था पर ऐसी स्तिथि नहीं है। स्वरुप आभूषण का अस्थायी रूप है। कल अच्छा दिखता था अब पुराना दिखता है। कभी मेरे अधिकार में था आज नहीं भी हो सकता है पर उसमे अन्तर्निहित सोना सदैव अपने स्वरुप में बना रहा। प्रकृति के अभिन्न रूप में विद्यमान रहा। चाहे कितने भी स्वरुप परिवर्तन कर ले, स्थान, काल, पात्र बदल ले वो यथावत था, है, और रहेगा।

जीव, चेतना और ईश्वर

यही सम्बन्ध जीव और परमसत्ता के बीच है | और इसके बीच के विविध अनुभव् की निरंतर कड़ी है हमारी चेतना | परम तत्व की स्थिरता और चिरस्थायी इंद्रधनुषीय मनमोहक स्तिथि उसके प्रस्फुटित, निकली, अलग हुई चेतना को विभिन्न जीव स्वरुप प्रदान कर उसे अनुभव और ज्ञान प्राप्ति का अनुपम अवसर प्रदान करती है ताकि वह पुनः दिव्य ज्योति में उसकी पूर्णता और पवित्रता तक पहुंचकर उसमे एकमेक हो सके |

प्रश्न यह है की जीव का अवतरण ही क्यों होता है ? इतने कष्ट, इतने संताप, अनगिनत बाधा, अवरोध और सुख व भोग जो संतुष्टि प्रदान करते , इनकी संरचना का कारण क्या है ? और कौन जिम्मेदार है ? किसका किया - धरा है और वह क्यों कर रहा है यह सब ? प्रश्न ही प्रश्न है | उत्तर ढूंढने की बिल्कुल भी फुरसत तक नहीं है | ऐसा कही जीवन होता है ? इतने कष्ट क्यों है मुझे ? मेरी क्या गलती है, मैंने तो कुछ किया ही नहीं फिर यह मेरे साथ क्यों हो रहा है ? और सबसे अंत में यह की अब ये सहन करने की सीमा से बाहर जा रहा है |

ऐसे सारे प्रश्नों के उत्तर ढूँढना और जल्दी से ढूँढना आवश्यक है | और जैसे ही उत्तर ढूँढना प्रारम्भ करते है उस अविनाशी सत्ता का प्रत्यक्षशील होना शुरू हो जाता, जो अनगिनत प्रश्न थे उसके उत्तर एक झटके में मिल जाते | सारी हलचल शांत होने लगती और प्रकृति के स्पंदन की सहज अनुभूति हमें अपने अंदर में समाहित करने लगती है | तिरोहित हो जाता संताप, धुप में रखे बर्फ की तरह पिघल कर विलुप्त हो जाते कष्ट और प्रारम्भ हो जाती हमारी नयी यात्रा, घर वापसी की यात्रा | द्वैत से अद्वैत की ओर, अंधकार से प्रकाशपुंज की ओर की मृदुल यात्रा | एक बार फल पक जाये तो उनका स्वाद , उनकी मिठास चकित कर देती और संतुष्ट भी | इसके लिए ब्रह्म की परमसत्ता अलग हुई चेतना की अवस्तिथि को जानना आवश्यक है | फिर तो बड़ी आसानी से जीव रूप में वर्तमान की स्थिति, अच्छे या बुरे अनुभव, कष्ट अथवा सुख की अनुभूति के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है | क्यों? क्योकि अब हमें वो दिख भी रहा है और समझ भी आ रहा है जो अब तक नज़रो से ओझल था, देखने समझने की परिधि में जो था ही नहीं अब तक |

|| येन परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मोति चिन्तयेत |
किं चिन्तयेत निश्चिन्तो द्वितीयं या न पश्यति ||

अब निर्णय हमारे हाथो में है | हम अपने वर्तमान दृश्य संसार जो जीव के रूप में हमारी स्थिति है और खुली आँखो के सामने है; उसको उसके साथ सुखी और संतुष्ट है तो आगे जाने की आवश्यकता नहीं है | बिल्कुल व्यर्थ है कुछ भी यदि कोई अनुत्तरित प्रश्न अंदर से नहीं जागते | सुख या दुःख की धार इसकी तीक्ष्णता सहते रहें | यही सहज स्थिति है | अंत में लौटकर इसी निष्कर्ष पर आना है की जीव स्वरुप के यथास्थिति के प्रति उदासीनता का भाव अर्जित करना है परन्तु सहजता से | परमसत्ता और उससे अलग ही चेतना के स्वरुप और स्वभाव का मामूली सा ज्ञान भी जीव के रूप में हमारी अच्छी या बुरी स्थिति के प्रति न केवल स्पष्टता प्रदान करती है बल्कि यह विज्ञान भी प्रदान करती है जो हमें सहज बना देता है |

परमसत्ता के स्वरुप से अलग होना और अलग होकर स्थूल जगत में अनुभव प्राप्त करने की लालसा, चेतना को आरम्भ से ही ऐसे ऐसे जीव स्वरुप, जीवन संरचना धारण कर अनुभव और ज्ञान प्राप्त करने का अवसर देती जिससे जीव तत्व में भी परमसत्ता के समरूप प्रेम और

जीव, चेतना और ईश्वर

प्रकाश का विस्तार हो जाए जीव को जन्म लेने की आवश्यकता ही न रहे | इस क्रम में परमसत्ता से अलग हुई चेतना जीव के साथ जन्म पर्यन्त बनी तो रहती परन्तु शरीर के केंद्र स्थान (ह्रदय) में स्थिर हो जाती | इसके नीचे जीव अपना विकास स्वयं के अधीन करता | यह स्वातन्त्र मिलने से कई प्रकार के विघटन उपस्थित होते है | परमसत्ता का स्वरुप दिखना बंद हो जाता, स्वयं के शक्तिशाली, प्रबुद्ध और क्षमतावान होने का अभिमान और अहंकार चेतना (आत्मा) के कथन पर भी कार्य करना बंद कर देता | इन दोनों से स्वतंत्र होने के बाद मनुष्य (जीव तत्व) ऐसे ऐसे कर्म कर बैठता जिसके कर्म आधारित श्रृंखलाएं बन जाती | जीव उसके निष्तारन में अनेक जन्म लगा देता | इस जाल में एक बार उलझे हुए जीव का स्वरुप पानी से अलग हुए मत्स्य की तरह हो जाता है |

मुक्ति का मार्ग क्या है ? मार्ग सरल है परन्तु लम्बा है | सरल इसलिए है की प्रत्येक जीव अपनी चेतना तक आसानी से पहुंच सकता | ध्यान, चक्र को गतिमान कर या अन्य किसी सरल विधि से चेतना तक पहुंच कर तदनुसार जीवनपर्यन्त कर्म किया जाए तो समय का प्रवाह आज नहीं तो कल, इस जन्म नहीं तो अगले जन्म हमें शुद्ध और परिष्कृत कर परमसत्ता तक पंहुचा देगी और इस जीवनचक्र से हमारी मुक्ति हो जाएगी | साथ ही, जब हम अपने निर्णय से अनुरूप वर्त्तमान जीवन और उसके स्वरुप, स्थिति अनुभव को समझ लेते तो प्रश्नो के उत्तर भी मिल जाते और संताप भी मिटने लगता | परन्तु इस वापसी यात्रा के लिए पथप्रदर्शक की आवश्यकता होती, गुरु का सानिध्य, उनकी सेवा और शिक्षा प्राप्ति का मार्ग ढूँढना पड़ता | अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने हेतु आज ही गुरु की खोज में लग जाए | आगे आपकी इच्छा |

|| इति अलम ||

मोहनाथमिश्र
YOS~MIS